मुक्तिबोध की जीविका का संघर्ष: 'लेक्चररशिप के लिए मेरा जी अभी भी ललकता है।'

रमेश कुमार राज
असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ)
हिंदी विभाग, हिन्दू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
Email: rameshdu09@gmail.com
M: 8448971626/8810399646

सारांश

पिता के रिटायरमेंट के बाद घर की सारी ज़िम्मेदारी मुक्तिबोध पर आ गई। इसलिए 1938 में उन्होंने नारायण विष्णु जोशी के साथ शुजालपुर मंडी के 'शारदा शिक्षा सदन' में 30 रुपये के मासिक वेतन पर अध्यापक की नौकरी कर ली। 1939 में दौलतगंज के मिडिल स्कूल में अध्यापक की नौकरी की। 1941 में पुनः 'शारदा शिक्षा सदन' में गए। 1942 में 'शारदा शिक्षा सदन' के बंद हो जाने पर उज्जैन के मॉडल स्कूल में अध्यापक की नौकरी की। 1945 में वायुसेना में भर्ती होने के लिए वे बैंगलोर चले गए। 1945 में ही उज्जैन से बनारस गए और सितंबर 1945 में त्रिलोचन शास्त्री के साथ 'हंस' के संपादन-कार्य में लग गए। 1946-47 में में जबलपुर के हितकारिणी उच्च विद्यालय में अध्यापक की नौकरी की। 1947 में उन्होंने सरकारी नौकरी (Food Procurement Inspector) के लिए आवेदन किया। 1948 में जबलपुर छोड़कर नागपुर आ गए और सचिवालय के सूचना एवं प्रकाशन विभाग में नौकरी करने लगे। अंत में 1958 में राजनांदगाँव के दिग्विजय कॉलेज में स्थाई प्राध्यापक की नौकरी की। इस तरह 1938 से 1958 तक उन्हें स्थाई नौकरी के लिए संघर्ष करना पड़ा। लेकिन इस नौकरी का भी वे अधिक समय तक लाभ नहीं उठा सके और 'भारत: इतिहास और संस्कृति' नमक अपनी पुस्तक से संबंधित विवाद में ऐसे उलझे कि उससे उबर नहीं पाए।

बीज शब्द: *जिजीविषा, लेक्चररशिप, ललक, सुशिक्षित, वर्गसाँ, अपमानजनक, तोहमत, मानसिक त्रास, सांप्रदायिक, कम्युनिस्ट, अवसन्नता, ट्रेजेडी।*

आमुख

मुक्तिबोध के पिता जब रिटायर हुए, तब वे स्नातक कर चुके थे। पिता के रिटायरमेंट के बाद पूरे परिवार की ज़िम्मेदारी उन पर निर्भर होने वाली थी। इसलिए उनके रिटायरमेंट से एक वर्ष पहले ही मध्य प्रदेश के बड़नगर के एक मिडिल स्कूल में उन्होंने अध्यापक की नौकरी कर ली थी। नौकरी करते चार महीने भी नहीं हुए थे कि अपनी इच्छा से वेतन की परवाह किए बिना डॉक्टर नारायण विष्णु जोशी के साथ काम करने वे शुजालपुर मंडी आ गए। जोशी प्रभाकर माचवे से उनका परिचय सुनकर उनके पास आए थे। मुक्तिबोध ने भी जोशी को निराश नहीं किया और उनके साथ चल दिए। जोशी उन दिनों शुजालपुर मंडी के 'शारदा शिक्षा-सदन' के प्रधानाध्यापक थे। यह सदन महात्मा गाँधी की प्रेरणा से निर्मित हुआ था। यहाँ देशभक्ति के पाठ पढ़ाए जाते थे, देशभक्तों का निर्माण किया जाता था। देशभक्ति

की यह प्रेरणा जोशी को फैजपुर कांग्रेस अधिवेशन (1937) में महात्मा गाँधी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं की अपील से मिली थी, जिसमें उन्होंने कहा था कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिए देश के सुशिक्षित युवाओं को देहातों में जाकर रचनात्मक कार्य करना चाहिए। उन्हीं की प्रेरणा से जोशी ने बड़ी-बड़ी नौकरियों के प्रलोभनों को त्यागकर शुजालपुर मंडी से ढाई मील दूर गेरखेड़ी गाँव में स्व. श्रीशरतचंद्र चौबे की सहायता से 'शारदा शिक्षा सदन' की नींव रखी थी। देशभक्ति और राष्ट्रप्रेम की भावना ने ही मुक्तिबोध को जोशी के साथ जाने को मजबूर किया। जोशी कहते हैं: "माचवेजी ने जब उन्हें मेरा अधिक परिचय दिया तो मुक्तिबोधजी बहुत प्रसन्न हुए। वे तुरंत मेरे साथ ही शुजालपुर मंडी चलने को तैयार हो गए। मैंने उनसे कहा कि फिलहाल उन्हें माहवार 30 रुपये से अधिक वेतन नहीं दिया जा सकता और वह भी मंडी की व्यवस्थापिका कमेटी उसे मंजूर कर लें तब। किन्तु मुक्तिबोधजी का मुझ पर कुछ ऐसा विश्वास हो गया था कि उन्होंने इन बातों पर कतई ध्यान ही नहीं दिया और उसी रात ट्रंक भर कर मेरे साथ हो लिए।"[1]

विवाह के बाद मुक्तिबोध को शुजालपुर मंडी छोड़ना पड़ा। क्योंकि परिवार के लोग चाहते थे कि वे अपने गाँव उज्जैन में ही रहे।1939 में उज्जैन के ही दौलतगंज मिडिल स्कूल में उन्होंने अध्यापक की नौकरी कर ली। साल भर बाद अक्टूबर 1941 की एक सुबह फिर जोशी के पास शुजालपुर पहुँच गए और वहीं नौकरी करने की इच्छा जाहिर की। लेकिन तब तक उस स्थान पर नेमिचन्द्र जैन आ गए थे। संस्थान की आर्थिक स्थिति पहले जैसी नहीं रह गई थी कि आते ही उन्हें नौकरी पर रख लिया जाता। किसी तरह उन्हें वहाँ रख लिया गया। डॉ. नारायण विष्णु जोशी कहते हैं: "एक दिन अचानक कवि मुक्तिबोध हाथ में सूटकेस लटकाये मेरे सामने आ खड़े हुए। बालकों जैसी सरलता से कहने लगे, मैं अब फिर यहीं रहना चाहता हूँ। मुझे पाठशाला में नियुक्त कीजिए। पाठशाला की आर्थिक स्थिति उस समय बहुत कमजोर थी। अतः यद्यपि मुक्तिबोधजी के आ जाने से हम सब को हर्ष हुआ, तथापि उनकी नियुक्ति प्रस्ताव ने मुझे उलझन में डाल दिया। नेमि बाबू का भी अनुरोध था कि किसी प्रकार मुक्तिबोधजी को शुजालपुर मंडी में ही रखा जाए। मुक्तिबोधजी को सब जानते तो थे ही। अतः जब मैंने कमेटी के सदस्यों के सामने कवि की नियुक्ति का प्रस्ताव रखा, तब बिना किसी हिचकिचाहट में उन्होंने तुरंत उसे मंजूर कर लिया।"[2]

1942 में विरोधियों ने 'शारदा शिक्षा-सदन' को बंद करवा दिया। मित्र मंडली बिखर गई। जोशी बंबई चले गए। नेमिचन्द्र जैन को उनके मित्र भारतभूषण अग्रवाल ने कलकत्ता बुला लिया और मुक्तिबोध उज्जैन चले आए। नेमिचन्द्र जैन के कहने पर भारतभूषण अग्रवाल ने मुक्तिबोध को भी कलकत्ता बुला लिया। वे कलकत्ता गए। लेकिन अनुकूल काम न मिलने पर महीने के भीतर वापस लौट गए। वे किसी व्यावसायिक संस्थान के कर्मचारी नहीं, बल्कि अध्यापक या संपादक बनना चाहते थे। इसलिए 1942 में उज्जैन के ही मॉडल स्कूल में अध्यापक की नौकरी कर ली। 1942 के मध्य उज्जैन में प्रगतिशील लेखक संघ की जो स्थापना हुई, उसमें मुक्तिबोध की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

1942 में मुक्तिबोध गहरे मानसिक दबाव में थे। 'शारदा शिक्षा-सदन' के अचानक बंद हो जाने और मित्र मंडली के बिखर जाने से वे बहुत आहत हुए। परिवार के लिए कुछ न कर पाना उनके लिए आपराधिक प्रवृत्ति जैसा

[1] *राष्ट्रवाणी* . (1965), पृष्ठ सं-294

[2] वही

था। वे कहते हैं: "I feel almost criminal about myself, when i find to irresponsible and irrelevantly occupied as i ma in worthless job and thus undergoing an a cut depression which is so very common for me."[3] 01.07.45 के पत्र में उन्होंने लिखा है: "I must get job, any job, in the immediate future." 1945 के मध्य में वे वायुसेना में भर्ती होने के लिए बैंगलोर चले गए। वहाँ भी उनका मन नहीं लगा और एक महीने में ही उज्जैन वापस आ गए। 1945 में ही उज्जैन से बनारस गए और वहाँ सितंबर 1945 से त्रिलोचन शास्त्री के साथ 'हंस' के संपादन-कार्य में लग गए। मुक्तिबोध संपादन से लेकर डिस्पैच तक का काम करते थे। वेतन मिलता था मात्र 60 रुपये। इसलिए यहाँ भी उनका मन नहीं लगा। परिवार की ज़िम्मेदारी थी, धन का अभाव था, उनकी रचनाएँ भी प्रकाशित नहीं हो रही थीं। इन सब कारणों से वे और परेशान हो रहे थे। 15 अगस्त 1956 को बनारस से उन्होंने मित्र श्री जगदीश नारायण वोरा को लिखा है कि 'मेरा व्यक्तिगत प्रभाव यदि है तो लेखक की हैसियत से हो सकता है। संपादकीय विभाग से मेरा संबंध नहीं-सा है। दूसरी भी अन्य बाधाएँ हैं। मुख्य बाधा संपादकों की ही समझिए। मेरी चीजें अब भी नहीं छपती हैं, और उनके अनुकूल चीजें लिखकर रुपया कमाना नहीं चाहता।'

आज़ादी से पूर्व सरकारी नौकरी करना मुक्तिबोध के लिए ब्रिटिश हुकूमतों की गुलामी करना था और वे विदेशी हुकूमतों के इशारे पर काम करना नहीं चाहते थे। यह उनके स्वाभिमान के विरुद्ध था। दूसरे के अनुशासन में रहकर काम करना उन्हें मंजूर नहीं था। दूसरा कारण यह कि सरकारी नौकरी में रहते हुए वे जनता के संपर्क से अलग हो जाते। क्योंकि जनता के हित की बात करना सरकार के खिलाफ षड्यंत्र समझा जाता था। उन्होंने ऑर्डिनेंस फैक्ट्री की नौकरी इसी कारण छोड़ी थी। तब वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और नौकरी में रहते हुए पार्टी का सदस्य बने रहना संभव नहीं था। नौकरी करते हुए वे 'people's war' (कम्युनिस्ट पार्टी का साप्ताहिक मुख पत्र) नहीं पढ़ सकते थे। इसलिए उन्होंने नौकरी छोड़ दी। 12.03.43 के पत्र में उन्होंने लिखा है: "I will join ordinance factory. I shall get not less than Rs.60 and in that i shall be able to maintain a servant to relieve my wife of her house work. this is my last choice."[4] ऐसा नहीं था कि वे सरकारी नौकरी करना नहीं चाहते थे। अच्छी नौकरी के लिए वे किसी भी प्रदेश में जाने के लिए तैयार थे। इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा है: "Can you exercise your influence in UP or Bihar for some remunerative job?"

1947 में एक बार फिर उन्होंने सरकारी नौकरी (Food Procurement Inspector) के लिए आवेदन किया। वे लिखते हैं: "I have applied for the post of Food Procurement Inspector carrying a salary of Rs.130/- plus 1-14-0 per day touring allowance. The work is not heavy and there is much leisure, so essential for brooding and musing literary ends (if i don't get this job) I am simultaneously trying for the post of Ration Inspector which will give me Rs.92/- per month and much leisure." (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-6, पृष्ठ सं-255, 28.02.47 के पत्र में) 1949 में उन्होंने लिखा:

[3] जैन, नेमिचन्द्र. (1998). *मुक्तिबोध रचनावली,भाग-6* . मेरठ : संवाद प्रकाशन, पृष्ठ सं-205
[4] वही, पृष्ठ सं-208

"Some time I wonder how I became a Govt. servant."[5] आजादी से पूर्व वे सरकारी नौकरी करना नहीं चाहते थे। आजादी के बाद उन्हें इसके लिए बहुत संघर्ष करना पड़ा। यही उनके जीवन की ट्रेजेडी है।

मुक्तिबोध बनारस छोड़कर जबलपुर आ गए और 1946-47 से हितकारिणी उच्च विद्यालय में अध्यापन करने लगे। उन दिनों सांप्रदायिक दंगे शुरू हो गए थे। सांप्रदायिक माहौल में भी उन्होंने 'जय हिन्द' में कुछ दिनों तक काम किया और रात को कर्फ़्यू के सन्नाटे में काम खत्म कर घर लौटते थे। इसी दौरान 'न्यू एज' में भी काम किया। महाकोशल महाविद्यालय में हिंदी की कक्षाएँ भी ली। फिर भी उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ। अक्टूबर 1948 में जबलपुर छोड़कर वे नागपुर आ गए और सचिवालय के सूचना एवं प्रकाशन विभाग में नौकरी करने लगे। कुछ समय बाद यह नौकरी भी छोड़ दी। उन दिनों प्रभाकर माचवे नागपुर में ही थे। उन्हीं के प्रयत्न से मुक्तिबोध नागपुर रेडियो स्टेशन के समाचार विभाग में न्यूज रीडर के पद पर नियुक्त हुए। कुछ समय बाद माहवारी कांट्रेक्ट पर यहाँ से उनका ट्रांसफर भोपाल रेडियो स्टेशन पर कर दिया गया। लेकिन वहाँ जाना और माहवारी कांट्रेक्ट पर काम करना, जिसमें नौकरी का स्थायित्व नहीं था, उन्हें स्वीकार्य नहीं हुआ और वहाँ जाने से इनकार कर दिया। इस कारण रेडियो के कार्यकर्ताओं से उनकी खूब बहस हुई और यह नौकरी भी उन्होंने छोड़ दी। भारतभूषण अग्रवाल कहते हैं: "सन 1954 में मुक्तिबोध नागपुर के आकाशवाणी में न्यूज रीडर के रूप में नियुक्त हुए। भोपाल राजधानी बनने पर न्यूज यूनिट भी नागपुर से भोपाल ट्रांसफर कर दी गई। साथ ही मुक्तिबोध को भी भोपाल ट्रांसफर के आदेश दिए गए। मुक्तिबोध नागपुर नहीं छोड़ना चाहते थे, इसलिए आरंभ में उन्होंने इस ट्रांसफर का विरोध किया। इस बात पर रेडियो के अधिकारियों से उनका झगड़ा हो गया जिसके कारण अंत में उन्हें रेडियो की नौकरी ही छोड़नी पड़ी।..... इस कहानी का एक रोचक प्रसंग यह है कि बाद में मुक्तिबोध को जब पता चला कि आकाशवाणी भोपाल में 'तार सप्तक' के उनके दो साथी, मैं भारतभूषण अग्रवाल और गिरिजाकुमार माथुर काम कर रहे हैं, तब उन्हें अपने निर्णय पर बहुत दुःख हुआ और मुझे एक निजी पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा कि किसी तरह मैं उनकी नियुक्ति भोपाल रेडियो पर करवा दूँ। मैंने यह पत्र गिरिजाकुमार माथुर को दिखाया और हम दोनों ने बहुत चेष्टा की ताकि मुक्तिबोध भोपाल रेडियो पर नियुक्त कर दिए जाएँ। पर उनकी पिछली इनकारी के कारण न्यूज यूनिट के अधिकारी उनसे इतने रुष्ट हो गए थे कि उन्होंने हमारी बात नहीं मानी।"[6] लेकिन प्रभाकर माचवे का कहना है कि मुक्तिबोध ने भोपाल जाने से इसलिए मना कर दिया कि वहाँ भारतभूषण अग्रवाल और गिरिजाकुमार माथुर के अधीन कार्य करना उनके सम्मान और स्वाभिमान के विरुद्ध था। इसलिए वेतन अच्छा होते हुए भी वे भोपाल नहीं गए। दो परस्पर विरोधी कारण उनके भोपाल न जाने के बताए जाते हैं। पहला, भोपाल में उनकी नियुक्ति माहवारी कांट्रेक्ट पर की गई थी। दूसरा, हर महीने यह नियुक्ति नए सिरे से की जाती। 'All India Radio की नौकरी मैं न छोड़ता; लेकिन monthly contract पर मैं भोपाल जाने को तैयार न था' यह बात स्वयं उन्होंने जून 1956 के एक पत्र में नेमिचन्द्र जैन को लिखी है। उन्होंने श्रीकांत वर्मा को भी लिखा: "लड़ाई लड़ लूँगा। जरा अच्छे ढंग से लड़ूँ यही इच्छा है। इसीलिए अपमानजनक शर्तों पर भोपाल जाना उचित न समझा।" [7]

---

[5] वही, पृष्ठ सं-249

[6] शर्मा, जनक. *मुक्तिबोध: व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ सं-20*

[7] वर्मा, श. (1965). *मुक्तिबोध के पत्र , मध्यम जुलाई 1965, पृष्ठ सं-37*

अक्टूबर 1956 में स्वामी कृष्णानंद सोख्ता के आमंत्रण पर मुक्तिबोध 'नया खून' (साप्ताहिक पत्र) के संपादक बने। 'इन दिनों मैं एक स्थानीय साप्ताहिक का संपादक हो गया हूँ' यह बात उन्होंने नेमिचन्द्र जैन को एक पत्र में लिखी है। (शायद 1956 के अंत या 1957 के प्रारम्भ में) उनकी राजनीतिक विचारधारा को धार देने में 'नया खून' का बड़ा योगदान है। 'नया खून' बड़ी निर्भीकता से मजदूरों पक्ष लेता और भ्रष्ट तत्वों का पर्दाफ़ाश करता था। वे इस पत्र में विश्व राजनीति संबंधी लेख लिखते थे। यह एक क्रांतिकारी पत्र था। इसके लिए उन्हें अतिरिक्त मेहनत करनी पड़ती थी जिससे उनका साहित्यिक लेखन ठप होता जा रहा था। समय-असमय उन्हें 'नया खून' के लिए कार्य करना पड़ता था। इस अतिरिक्त काम और अधिक मानसिक श्रम के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। नागपुर से श्रीकांत वर्मा को उन्होंने लिखा: "नया खून की नौकरी रात को डेढ़-डेढ़, दो-दो बजाती है। शरीर में शक्ति का अभाव है। जब तक यह नौकरी छोड़ नहीं पाता, तब तक हालत ऐसी ही रहने वाली है। स्वास्थ्य एकदम चौपट है और बड़ी-बड़ी फिक्रें लग गयी हैं। 'नया खून' भूत सरीखा पीछे पड़ गया है। समय का अभाव है।"[8]

मित्रों ने जबर्दस्ती मुक्तिबोध से एम.ए. करवाया। वे एम.ए. करने के मूड में नहीं थे। चार बार एम.ए. का फॉर्म भरा था किन्तु एक पेपर के बिगड़ जाने के बाद शेष परीक्षा नहीं दी। अक्षयकुमार जैन, रामकृष्ण श्रीवास्तव तथा परिजनों के आग्रह से उन्होंने शेष परीक्षा दी और द्वितीय श्रेणी से एम.ए. पास किया। एम.ए. करना उनके लिए मजबूरी थी। क्योंकि अच्छी नौकरी के लिए एम.ए. पास होना जरूरी था। 06.02.52 के पत्र में उन्होंने लिखा है: "People are again forcing me to appear at the M.A. examination next year. I think i should, shall fill up the form and attend the examination. That's all. People think that Govt. Postgraduate Diploma of journalism is also worth while." लेक्चरर बनना उनकी इच्छा थी। "वैसे मुझे Lecturership की भी तलाश है....सब जगह एम.ए. फर्स्ट क्लास या डॉक्टरेट माँगते हैं। मैं मात्र सेकंड क्लास हूँ। वैसे लेक्चररशिप के लिए मेरा जी अभी भी ललकता है।"[9] उनकी यह इच्छा पूरी हुई जुलाई 1958 में। राजनांदगाँव में कॉलेज खुल जाने और श्रीशरद कोठारी, अटल बिहारी दूबे तथा प्रमोद कुमार वर्मा के सहयोग से उन्हें दिग्विजय कॉलेज में प्राध्यापक की नौकरी मिल गई और इस तरह नागपुर की जहालत भरी जिंदगी से उन्हें मुक्ति मिली। जबलपुर में उन्हें साहित्यिक विरोध सहना पड़ा था तो नागपुर में राजनैतिक विरोध। वहाँ का अनुभव साझा करते हुए उन्होंने लिखा है: "At Nagpur, i feel alone, isolated and amputated. One side of my life has been completely paralysed. My voice is stifled. And the circumstances are all the worse. There is no cheer in life, and dread outside service makes me helpless. I am economically and mentally a chronic case."[10] जून 1957 के पत्र में उन्होंने लिखा है: "मैं दिली आने के लिए बिल्कुल तैयार हूँ। लेकिन, सच तो यह है कि मैं बगैर ठीक-ठिकाने के कैसे रह सकता हूँ। अब यह नामुमकिन-सा है। अगर ऐसा ही होता तो मैं यूँ ही कई बार दिल्ली आ जाता। वैसे मेरा यहाँ (नागपुर में) भी कोई ठौर नहीं। मौजूदा नौकरी सवा दो सौ देती है। वह बिल्कुल नाकाफी है। और सोच तो यह रहा हूँ कि आमद के सुनिश्चित जरिए पैदा किए जाएँ, लेकिन अब तक हो नहीं पाया

[8] वही, पृष्ठ सं-41
[9] जैन, नेमिचन्द्र. (1998). *मुक्तिबोध रचनावली,भाग-6* . मेरठ : संवाद प्रकाशन, पृष्ठ सं-324
[10] वही, पृष्ठ सं-295.296,297

है। दिल्ली में ढ़ाई सौ मुझे बहुत ही कम होंगे। अगर कोई तीन सौ, साढ़े तीन सौ की नौकरी आपके ध्यान में आए तो जरूर सूचित कीजिएगा।" (मुक्तिबोध रचनावली, भाग-6, पृष्ठ-323) 09.01.58 को उन्होंने लिखा: "अभी तक स्थाई नौकरी का भी निश्चय नहीं हो सका है और अब तो आयु चालीस वर्ष की गलत बाजू की तरफ़ जा रही है।"[11]

विरोधियों ने मुक्तिबोध को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया था। वे स्वयं को घिरा हुआ महसूस करते थे। अधिक लोगों से मिलना-जुलना उन्होंने बंद कर दिया। सभा-सम्मेलन में आना-जाना कम कर दिया। मनमोहन मदारिया कहते हैं: "जब तक वह नागपुर में सूचना विभाग और आकाशवाणी की सेवाओं में रहे, उनके लिए मुक्त होकर साँस लेना गुनाह था। कतिपय विद्यरणकारी तत्त्व उनके पीछे पड़े रहते थे और उनकी सामान्य-सी गतिविधियों में राजनीतिक षड्यंत्र सूंघ लेते थे। उन दिनों विरोधी तत्वों का अच्छा खासा गिरोह बन गया था, जिसमें अनपढ़ पत्रकार, हीन भावना से ग्रस्त अफसर और साहित्यिक सभी सम्मिलित थे। अपने बीवी बच्चों की रोटी बचाए रखने के लिए मुक्तिबोध ने कई अत्याचार चुप रहकर सहन किए। उन्हें उन दिनों बहुत सतर्क होकर रहना पड़ता था। अक्सर वह अपने गिने-चुने दोस्तों के बीच रहते और सभा-समितियों में शायद ही भाग लेते। यहाँ तक कि उन दिनों यशपाल की उपस्थिति में जो साहित्यिक गोष्ठी आयोजित की गई, उसमें भी वह न आ सके थे।"[12] श्रीकांत वर्मा कहते हैं: "मैंने पाया कि उनके नेत्र अस्थिर व सशंक है और इधर-उधर चारों ओर घूमते रहते हैं। लोगों से घिरे होने पर वह सतर्क होकर बात करते हैं। मुझे वह आवश्यकता से अधिक सतर्क लगे। बाद में भी मैंने देखा, दफ्तरों के वातावरण में या सभाओं और गोष्ठियों में जाकर मुक्तिबोध आत्म सजग हो जाते हैं, जैसे घिरा हुआ या सुरक्षित होने का निर्णय कर पाना कठिन हो रहा हो। मुक्तिबोध उन दिनों सचमुच घिरे हुए थे, ऐसे साहित्यिकों से जो साहित्यिक से अधिक नेताओं के दलाल थे और मुक्तिबोध पर उनकी खास नजर होती थी।"[13]

नागपुर ने मुक्तिबोध को बहुत कष्ट दिया। आर्थिक विपन्नता के कारण यहाँ परिवार का निर्वाह बड़ी मुश्किल से हो रहा था। श्रीकांत वर्मा को उन्होंने लिखा है: "वैसे मैं नागपुर एकदम कैसे छोड़ दूँ? बाल-बच्चेदार आदमी होने के अलावा मेरे माता-पिता भी हैं और मुख्यतः कर्ज लदा हुआ है। इस कर्ज को अदा कैसे करूँ इसी की धून में रहता हूँ। पठानों से कर्ज लेते-लेते जब हिंदुओं से लेने लगा तो पाया कि वे पठानों से भी बुरे होते हैं। बड़े पाजी। कुछ न पुछो। रेडियो की नौकरी की लगभग एक चौथाई रकम व्याज में जाती थी। अभी मैंने सौ रुपये चुकाए हैं। कुछ ही महीनों में और दूँगा। आगे चलकर मैं इन लोगों पर उपन्यास अवश्य लिखूंगा।"[14] वे कहते हैं: "My first two years of Nagpur life were almost a nightmare. It was a painful and dirty experience….At the same time, physical weakness has come to dwell permanently."[15] यह उनके जीवन-संघर्ष का महत्त्वपूर्ण काल था। इस संघर्ष ने उनकी रचनात्मकता को नई दिशा दी। इसी दौरान उन्होंने श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण लंबी कविता 'अंधेरे में' लिखीं। इसी दौरान उनकी पत्रकारिता भी निखरी। वे कहते हैं: "People now think me much

[11] वही, पृष्ठ सं-327
[12] मदारिया, श्री. मनमोहन. *गजानन माधव मुक्तिबोध: सांप और सीढ़ी का खेल*
[13] वर्मा, श. (1965). *ज्ञानोदय: ब्रह्मराक्षस का शिष्य, पृष्ठ सं-11*
[14] *मुक्तिबोध के पत्र* . (1965)
[15] जैन, नेमिचन्द्र. (1998). *मुक्तिबोध रचनावली,भाग-6* . मेरठ : संवाद प्रकाशन, पृष्ठ सं-311

of a shrewd diplomat, and accomplished journalist. Yes, my real journalistic career has begun at Nagpur."[16] उनकी पत्रकारिता को निखारने में 'नया खून' का बड़ा योगदान है, जिसकी पकड़ उन दिनों काफी मजबूत थी। वे कहते हैं: "And yet I am being delightfully read every week by some five thousand people. My paper has the highest circulation and is the best political weekly in the state."[17] अंततः 1958 में उन्होंने नागपुर छोड़ दिया और राजनांदगाँव के दिग्विजय कॉलेज में प्राध्यापक की नौकरी कर ली। वीरेंद्रकुमार जैन को वे लिखते हैं: "जिंदगी में काफी ठुकाई-पिटाई के बाद अब राजनांदगाँव आ पहुँचा हूँ। यहाँ का कॉलेज नया-नया है। सभी लोग सहयोग की भावना से प्रेरित है। काफी आराम से हूँ। पिछली कश्मकश और मानसिक तनाव अब यहाँ नहीं है। इसलिए यहाँ का वातावरण सुखद है। सोचता हूँ, राजनांदगाँव मेरे लिए लाभप्रद होगा।"[18]

राजनांदगाँव में नियुक्त होने के बाद उन्होंने नेमिचन्द्र जैन को लिखा: "नेमि बाबू, मेरी कहानी बड़ी उदास है; कहने से क्या लाभ! नौ वर्ष की सरकारी नौकरी ने कुछ नहीं दिया, तोहमत दी, राजनैतिक और सामाजिक तोहमत। प्राइवेट कंपनियों की नौकरी पर भी अब भरोसा नहीं रहा। माया मिली न राम! ऊपर से मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य चौपट हो गया। मैं कभी किसी से झगड़ा-झाँसा नहीं किया, साथ ही अपने अधिकारियों को खुश रखने की अजहद कोशिश की, फिर भी हानि ही हानि।..... इसी पार्श्वभूमि में आप मेरा राजनांदगाँव जाना देखिए। वहाँ के लोगों ने, छोटे-छोटे लोगों ने मेरी नियुक्ति के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किए। वहाँ की लेक्चररशिप छोटी ही सही, किन्तु अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण है। संघर्ष भी कम tortuous होंगे। दूसरे, एक अर्से से लेक्चररशिप की मेरी इच्छा रही है, वह भी पूर्ण हो जाएगी।"[19]

राजनांदगाँव में मुक्तिबोध ने एक पुस्तक लिखी- 'भारत: इतिहास और संस्कृति' जिसका कुछ अंश एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसे मध्य प्रदेश सरकार द्वारा सेकेन्डरी स्कूल के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस पुस्तक में भारत के इतिहास की कथा तो है ही, उससे अधिक भारत के सामाजिक विकास यात्रा की कथा है। मुक्तिबोध ने इतिहास की घटनाओं का सतही वर्णन न कर, उन घटनाओं के भीतर विकसित होती हुई समाज और संस्कृति का मर्म पहचानने का संकेत किया है। लेकिन जब यह पुस्तक इनके अधिष्ठाताओं के पास पहुँची तो सब एक साथ बौखला उठे। उनके विरोधियों को एक अवसर मिल गया और हर तरफ से उन पर हमले होने लगे। तब तक यह पुस्तक लोकप्रिय हो चुकी थी और शीघ्र ही इसका दूसरा संस्करण 1962 में प्रकाशित हुआ। 31 अगस्त 1962 को जबलपुर में एक सभा हुई जिसके अध्यक्ष व्यौहार राजेन्द्र सिंह थे। इनकी अध्यक्षता में 'युगधर्म' जबलपुर के संपादक भगवतिधर वाजपेयी, 'नव भारत' जबलपुर के संपादक कालिका प्रसाद दीक्षित, कुसुमाकर आदि ने भाषण दिए और यह प्रस्ताव पास किया कि मुक्तिबोध की 'भारत: इतिहास और संस्कृति' पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया जाए। 7.9.62 को 'जन समाज' जबलपुर की ओर से एक प्रतिवेदन मध्य

[16] वही
[17] वही
[18] वर्मा, मोतीराम. (2004). *लक्षित मुक्तिबोध* . नई दिल्ली : नेशनल पब्लिकेशन
[19] जैन, नेमिचन्द्र. (1998). *मुक्तिबोध रचनावली,भाग-6* . मेरठ : संवाद प्रकाशन, पृष्ठ सं-327,328,329

प्रदेश के मुख्यमंत्री को भेजा गया जिसमें इस पुस्तक को भ्रामक, असत्य एवं अश्लील बताया गया। यह भी कहा गया कि इस पुस्तक में न केवल जैनियों की संस्कृति और धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाई गई है, बल्कि वर्ग विद्वेष फैलाने की भी साजिश की गई है। भाषा की त्रुटियों से अर्थ से अनर्थ की ओर संकेत करते हुए यह माँग की गई कि इस पुस्तक पर रोक लगा दी जाए। सेठ गोविन्ददास ने अपने वक्तव्य में इस पुस्तक को आग के हवाले कर देने की बात कही। एक जनसंघी नेता ने तो मुक्तिबोध को 'विकृत मस्तिष्क' का लेखक तक कह दिया। जबलपुर, रायपुर, दुर्ग, भोपाल आदि स्थानों पर इस पुस्तक के विरोध में पर्चे भी बाँटे गए। शिक्षामंत्री का पुतला जलाया गया। मुक्तिबोध ने इसे सांप्रदायिक आंदोलन बताया है। वे कहते हैं: "इस सांप्रदायिक आंदोलन की खबरें बड़े-बड़े शीर्षकों से अखबारों में छपने लगीं, जिससे उत्तेजना बढ़ती गई, जिसने भोपाल में उग्र रूप धरण कर लिया। मुझे ज्ञात हुआ कि वहाँ मेरी पुस्तक जलाई गई, पर्चेबाजी हुई, उत्तेजनापूर्ण भाषण हुए तथा सभी दलों की एक संयुक्त सभा में पुस्तक पर पाबंदी लगाने की माँग की गई।"[20] इस आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि 19 सितंबर 1962 के राज-पत्र में पुस्तक को बैन कर गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। मुक्तिबोध ने स्पष्टीकरण देना चाहा कि "भारत: इतिहास और संस्कृति' में जो कुछ भी लिखा गया है, वह उन्हीं पुस्तकों पर है, जो या तो एम.ए. और बी.ए. में पढ़ाई जाती हैं या देश के प्रसिद्ध इतिहासज्ञों के वे ग्रंथ, जिन्हें इतिहास के क्षेत्र में खूब मान्यता मिल चुकी है। अतः उक्त पुस्तक में मेरे मौलिक विचार नहीं बल्कि विभिन्न इतिहासकारों के विचारों का संकलन मात्र ही मैंने अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है। इसके अलावा जहाँ मैंने अपनी ओर कुछ कहने का प्रयत्न किया है तो उसके पीछे उन्हीं ख्याति प्राप्त इतिहासज्ञों की पुस्तकों की मनोवैज्ञानिक भूमिका रही है जिनकी सहायता से मैंने 'भारत: इतिहास और संस्कृति' लिखने में ली है।"[21] उन्होंने सुप्रीम कोर्ट का भी दरवाजा खटखटाया। लेकिन 16.04.63 को केस अपने निर्णय पर ही खत्म हुआ। कानूनन यह पुस्तक प्रतिबंधित हुई। वे इससे बहुत आहत हुए। क. पारसारथी को वे लिखते हैं: "मध्य प्रदेश सरकार के इस कार्य ने मुझे बुरी तरह हिला दिया है। मैं स्वयं को सबसे अधिक असहाय महसूस कर रहा हूँ। जीवन की समस्त आशाएँ चूक गई।'[22] हरिशंकर परसाई कहते हैं: "वे बड़े व्यापक संदर्भ में इस चीज को देख रहे थे। वे कहते- पार्टनर, यह मेरी या आपकी पुस्तक का मामला नहीं है। मामला यह है कि देश में फासिस्ट ताकतें बहुत बढ़ गई हैं। वे आपकी कलम छीन लेगी, आपके गले को दबाकर आपको बोलने नहीं देगी। वे स्वतंत्र चिंतन को समाप्त कर देगी। वे बढ़ी तो किसी दिन आपकी सारी प्रजातांत्रिक संस्थाओं को नष्ट कर देगी और देश में फासिस्ट तंत्र को स्थापित कर देगी।"[23] उनके मनःस्थिति का वर्णन करते हुए परसाई कहते हैं: "वे घंटों देश की राजनैतिक, आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करते और बताते कि ऐसी स्थितियों में फासिस्ट प्रवृत्तियाँ किस तरह उभर रही हैं। बोलते-बोलते उनका दम फूलने लगता और वे बिस्तर पर लुढ़क कर थोड़ी देर चुपचाप पड़े रहते। घोर मानसिक त्रास में उनके वे दिन गुजर रहे थे।... मुझे लगता है, उस घटना ने मुक्तिबोध को सबसे ज्यादा आघात पहुंचाया। जिसने उन्हें तब देखा है, वही जान सकता है कि भारतीय जीवन के जिन काले संकेतों को उन्होंने देखा था, उनसे वे कितने विचलित, उत्तेजित और त्रस्त थे।"[24]

---

[20] *मुक्तिबोध द्वारा राज्यपाल मध्यप्रदेश भोपाल के लिए तैयार किया गया स्पष्टीकरण*

[21] वही

[22] शर्मा, जनक. *मुक्तिबोध: व्यक्तित्व और कृतित्व, पृष्ठ सं-30*

[23] परसाई, हरिशंकर. (1965). *राष्ट्रवाणी: वह तेजस्वी पीड़ा, पृष्ठ सं-298*

[24] वही, पृष्ठ सं-298

निष्कर्ष: 1938 से 1958 तक मुक्तिबोध आजीविका के लिए स्थान बदलते रहे। कई संस्थानों से जुड़े फिर अलग हुए। कई पत्रिकाओं में काम किया। नौकरी पकड़ते-छोड़ते रहे। कहीं नौकरी में दिक्कतें आईं, कहीं उचित पैसे नहीं मिले तो कहीं आवश्यकता से अधिक श्रम करना पड़ता था। उन्हें लेक्चरशिप की तलाश थी। उनकी यह इच्छा पूर्ण हुई 1958 में। पूरे 20 वर्षों तक स्थाई नौकरी के लिए वे ललायित रहे। अपमानित और प्रताड़ित होते रहे। जीवन के अंतिम क्षणों में भी उन्हें बहुत प्रताड़ित किया गया। पुस्तक संबंधी विवाद ने उन्हें सबसे अधिक दुःख पहुंचाया। वे इससे इतने आहत हुए कि खुद को संभाल नहीं पाए और लगातार बीमार होते चले गए।